ज्ञानोदय और शिक्षा की भारतीय अवधारणा

राजाराम भादू

भारत का ज्ञानोदय कोई परिभाषित और प्रतिस्थापित परिघटना नहीं है। यह एक विचार है, जिसे प्रामाणिकता और क्रमिकता की दरकार है। बेशक यह विचारणा अपने अतीत के पुनरावलोकन और किसी हद तक पुनर्संधान के लिए उत्प्रेरक है। कहा जाता है कि विश्व में भारत ज्ञान का एक बड़ा केंद्र रहा है। इसे 'विश्व गुरु' जैसे संबोधनों से भी अभिहित किया जाता है। भारत को ज्ञान केंद्र क्लासिकी समृद्धि के संदर्भ में कहा जाता है। प्राचीनता से ज्ञान का कोई गुणात्मक संबंध हो सकता है, इसे लेकर तो अकादमिक क्षेत्र में संदेह रहा है। क्लासिकी के मामले में जरूर भारत बाद की यूनानी सभ्यता से टक्कर में ठहरता है। रोमन सभ्यता तो कमोबेश अंधकार में ही रही। अरब के कुछ आविष्कार निश्चय ही अभूतपूर्व थे। लेकिन, ग्रीक साहित्य की तुलना में भारतीय प्राचीन भाषाओं का साहित्य शायद ही कमतर ठहरता है।

अब इसे लेकर एक दूसरा प्रश्न उठता है। क्या ज्ञान का होना मात्र अहम है अथवा समाज में उसका प्रचलन हो, तभी इसे अहमियत दी जानी चाहिए। समाज में ज्ञान की प्रयुक्ति को सभ्यता का एक मापदंड मानें तो भारत के संदर्भ में निराशा दिखाई देती है। इस महाद्वीप का एक बड़ा हिस्सा उस ज्ञान के आलोक से वंचित रहा है। कहा जा सकता है कि ग्रीक सभ्यता में भी दास समुदाय ज्ञान की परिधि से परे रहने के लिए अभिशप्त था। सही है, किंतु ग्रीक की राज्य व्यवस्था और नागरिक समाज में उस ज्ञान के अनुप्रयोग परिलक्षित हैं। कहने को भारत में भी गणराज्यों के अस्तित्व की बात की जाती है।

इस सदंर्भ में ज्ञान के पीढ़ीगत संतरण की संस्थायी प्रणाली की अनुपस्थिति भी भारतीय संदर्भ में एक चिंताजनक पहलू है। नालंदा, तक्षशिला और उज्जयिनी आदि विश्वविद्यालयों का उल्लेख मिलता है, लेकिन ये शृंखला बहुत आगे नहीं जाती। कई लंबे ज्ञात कालखंडों में हम ज्ञान-राशियों को केंद्रीकृत और संचित, किंतु अप्रयुक्त पाते हैं। व्यापक समुदाय उससे वंचित बने रहते हैं।

बहरहाल, हम निकट अतीत में ज्ञानोदय की प्रक्रिया पर नजर डालें। इसमें एक दौर वह है जिसे भारतीय नवजागरण कहा जाता है। कहना न होगा कि यह यूरोपीय पुनर्जागरण का ही भारत के संदर्भ में किया गया सूत्रीकरण है। दूसरा दौर स्वातंत्र्योत्तर भारत में ज्ञान के व्यवस्थिकीकरण और संस्थाकरण की प्रक्रियाएं हैं। इस समग्र परिघटना के कई संस्तर व श्रेणी भेद हैं जिनके विस्तार में जाना हमारा अभिप्रेत नहीं है।

हम यहां कुछ सामान्य प्रतीतियों (इम्प्रेशंस) का उल्लेख करना चाहेंगे। यदि प्रस्थान बिंदु मानना जरूरी है, तो 1857 के जन-विद्रोह को माना जा सकता है। इसके बाद भारत में ज्ञान के पुनर्संधान की दो स्तरों पर क्रमिक और उत्तरोत्तर गतिमान प्रक्रिया शुरू हुई, यह प्रक्रिया एक स्तर पर तो औपनिवेशक थी, जिसके अंतर्गत पाश्चात्य प्रशासकों, अध्येताओं, नृतत्वशास्त्रियों और भाषाविदों ने भारतीय ज्ञान-राशियों और जन-जीवन को समझना और व्याख्यायित करना शुरू किया। निश्चय ही इसके पीछे औपनिवेशिक हित और अभिप्राय थे। कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी के ऑरिएंटल अध्ययनों को इसके उदाहरण के तौर पर देखा जा

सकता है। इसी सारणी में भारतीय अध्ययनों के कुछ और उपक्रमों को ले सकते हैं, जिनकी दृष्टि औपनिवेशक आग्रहों से भिन्न थी, जैसे कार्लमार्क्स के भारत विषयक नोट्स।

दूसरे स्तर पर खुद भारतीयों द्वारा अपने अतीत और इसकी विरासत के रूप में प्रदत्त ज्ञान-राशियों का पुनर्संधान और विवेचन-विश्लेषण है। इसे भी हम दो तरह से घटित होते देखते हैं। एक में तो ऐसे गौरवशाली भारत की खोज है, जो स्वयं उद्दीप्त है। दूसरी तरह के प्रयासों में यूरोपीय रिनेसां से ग्रहण की गई प्रेरणाएं और तुलनाएं भी सम्मिलित हैं। ये प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न मंतव्यों से परिचालित है। इसका कुछ हिस्सा तो ब्रिटिश सत्ता द्वारा संचालित प्रक्रिया का अनुषंगी बन जाता है, जबकि इसका व्यापक हिस्सा उपनिवेश विरोधी प्रतिरोध के लिए ज्ञान आधारित दृष्टि और रणनीति तैयार करता है। अपनी आगे की फलश्रुतियों में हम शांतिनिकेतन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और अन्यान्य ज्ञान केंद्रों को संस्थाबद्ध होते देखते हैं। यह क्रम स्वातंत्र्य संघर्ष के समानांतर बढ़ता चला जाता है।

स्वतंत्र भारत में आधुनिक शिक्षा

आधुनिक शिक्षा का विकास जनतांत्रिक राज्य की अवधारणा से संबद्ध है, किंतु औपनिवेशिक राज्यों में आधुनिक शिक्षा का एक नितांत भिन्न रूप प्रचलित रहा, जो शासितों का शासक वर्गो के हितों के अनुरूप अनुकूलन करता रहा। भारत में स्वतंत्रता के बाद राज्य के जनतांत्रिक स्वरूप को अपनाने के साथ शिक्षा को पुनर्परिभाषित करने के प्रयास आरंभ हुए। उपनिवेशकालीन मैकाले की जिस शिक्षा प्रणाली को निरंतर कोसा जाता रहा है, वह मुख्यधारा शिक्षा के रूप में बरकरार है। उसकी वैकल्पिक धारा इतनी क्षीण है कि उसे धारा कहना तक कठिन लगता है।

भारत में जनतांत्रिक शासन प्रणाली का मॉडल पश्चिम से लिया गया। पश्चिम में इस मॉडल का विकास शताब्दियों के संघर्ष के बाद हुआ था। इस संघर्ष के दौरान ही आधुनिक शिक्षा का उद्भव और विकास हुआ। भारत में स्वातंत्र्य-संघर्ष का सचेतन काल एक शताब्दी से अधिक नहीं है। इसके साथ शिक्षा को लेकर जो सुधारवादी-प्रसारवादी मुहिम चली थी, उसमें प्राचीन देशज प्रणाली के पुनरुत्थान की आकांक्षा भी शामिल थी। स्वतंत्रता के उपरांत शिक्षा प्रणाली के 'अन-उपनिवेशीकरण' (डि-कॉलोनाइजेशन) के लिए ठोस और दीर्घकालीन प्रयास नहीं हुए, बल्कि शिक्षित मध्यवर्ग ने शैक्षिक यथास्थिति को बनाए रखने में मदद की, यदि कुछ किया तो इसके और 'पाश्चात्यकरण' (वेस्टर्नाइजेशन) का उपक्रम किया, जो इसकी औपनिवेशिक मानसिकता एवं निहित स्वार्थों के पक्ष में था, फलतः शिक्षा आतंरिक उपनिवेशन का माध्यम बन गई।

सही मायने में आधुनिक शिक्षा और विशेषकर इसके प्रारंभिक चरण की समाज के निचले तबके तक पहुंच शासन की समस्त प्रक्रियाओं के जनतांत्रीकरण के बिना संभव नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि एक तरफ प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का संवैधानिक संकल्प दशक-दर-दशक टलता रहा, तो दूसरी ओर जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण को तृणमूल स्तर तक सुनिश्चित करने वाली प्रणाली-पंचायती-राज को संवैधानिक दर्जा मिलने में कई दशक बीत गए। फलतः भारतीय विषमतामूलक समाज में विद्यमान दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक और स्त्रियों की स्थिति न केवल विकास की प्रक्रिया में हाशिए पर रही, बल्कि शिक्षा से भी ये तबके सामान्यतः वंचित ही रहे। यह स्वाभाविक ही था कि अपनी निरक्षरता के चलते मतदान करने के अलावा इन समुदायों की और कोई जनतांत्रिक भूमिका कल्पनातीत ही होती, यही वास्तविकता भी थी।

विगत स्वातंत्र्योत्तर अर्द्धशताब्दी में सामाजिक बदलाव को लेकर चले आंदोलनों की गति काफी मंथर रही है। राजनीतिक दल भी जन-शिक्षण की भूमिका से विरत होते गए हैं, जबकि यह सच्चाई है कि परिवर्तन की प्रक्रिया न केवल शिक्षा के प्रसार को गति देती है, बल्कि शिक्षा की पद्धति और विषयवस्तु को भी गुणात्मक रूप से प्रभावित करती है। दक्षिण भारत और उत्तर भारत में शिक्षा की प्रस्थिति का भेद इन क्षेत्रों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी व्यक्त करता है। उत्तर भारत में समाज सुधार के आंदोलनों की दक्षिण जैसी बयार नहीं बही। सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन जन-समाजों का सशक्तिकरण करते हैं, सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं में उनकी हिस्सेदारी बढ़ाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति को मुखर करते हैं। शैक्षिक यथास्थिति का वस्तुपरक विश्लेषण किए बगैर और इसके निहितार्थों को उजागर किए बिना किसी ठोस बदलाव की कल्पना मुमकिन नहीं है। इस आलोचना का एक दार्शनिक आधार है, इसलिए वस्तुस्थिति की

विश्लेषण प्रक्रिया से भी हम शिक्षा के वैकल्पिक स्वरूप के सूत्र निकलते देख सकते हैं। यह सही है कि इन सूत्रों को लेकर बहुत आगे नहीं जाया जा सकता, इसके लिए समूचे शैक्षिक प्रतिमानों में ही बदलाव (पैराडाइम शिट) अपेक्षित होगा। इस प्रसंग में स्कूल की संस्कृति, शिक्षक की भूमिका, पाठ्यचर्या और पाठ्यसामग्री, पूरक-पुस्तकों, बाल-साहित्य और शिक्षण-विधियों पर विचार किया जाना चाहिए। इस विमर्श में विभिन्न शैक्षिक नवाचारों और प्रयोगों की सीख भी शामिल हो।

अंततः कोई भी शैक्षिक सुधार निरपेक्षतः न तो लागू ही किया जा सकता है और न सफलतापूर्वक क्रियान्वित। इसके लिए बहुआयामी सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नयन प्रक्रियाओं का सबंलन आवश्यक है। तद्नंतर शिक्षा इन्हें उत्प्रेरण प्रदान करती है। उदाहरण के लिए लैंगिक विभेद और कठोर पितृसत्तात्मकता के रहते बालिका-शिक्षा को बढ़ावा मिलना असंभव है। अतएव संवैधानिक और संसाधनात्मक प्रावधानों के बावजूद व्यापक सामाजिक सहभागिता के बिना प्रारंभिक शिक्षा की व्यापक पहुंच सुनिश्चित नहीं हो सकती। शिक्षा सर्वप्रथम सांस्कृतिक संतरण और परिष्करण की प्रक्रिया है, इसलिए यदि इसका एक आयाम सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों से संबद्ध है, तो दूसरे की जड़ें स्थानीय जमीन में होती हैं। यही समझ शायद शिक्षा की देशज प्रकृति के विकास एवं उसके ऊर्ध्वगामी और क्षैतिजिक विस्तार का प्रस्थान-बिंदु हो सकती है।

शैक्षिक नवाचार

भारत, विशेषकर उत्तर भारत में स्वतंत्रता के 62 वर्ष बाद भी जाति-विभेद, लैंगिक विषमता और सांप्रदायिकता की प्रवृत्तियां विद्यमान हैं, यह चिंता का विषय है। विडंबना यह है कि शिक्षित माना जाने वाला समुदाय भी इन प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं है। इसलिए शिक्षा प्रणाली और जन-शिक्षण की परियोजना का प्रश्नित होना स्वाभाविक है। मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली की तो अक्सर इस आधार पर आलोचना होती रही है कि इसके औपनिवेशिक चरित्र में मूलभूत बदलाव नहीं आया। उसकी जगह आंतरिक उपनिवेशन की नव-ब्राह्मणी संरचना ने ले ली। निम्न कही जाने वाली जातियां, आदिवासी, अल्पसंख्यक, बच्चे, विशेषकर बालिकाएं काफी संख्या में इस तंत्र से बाहर ही रहे, जो इसमें समाविष्ट भी हुए, वे भी प्रणाली में अंतर्निहित विभेद के चलते अपने को अलगाया हुआ अनुभव करते रहे। सवर्ण वर्गों का सामंती नजरिया बदल पाने में भी यह प्रणाली कारगर नहीं हुई। मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली की आलोचना का सार यह है कि इसकी संरचना और अंतर्वस्तु का जनतांत्रिकरण संभव नहीं हुआ है। मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली के समानांतर जो शैक्षिक नवाचार हुए हैं, उनके प्रभावों ने निश्चय ही इसके ऊपर गुणात्मक प्रभाव डाला है, किंतु जाति, लिंग और सांप्रदायिकता के मुद्दों को इन नवाचारों में सीधे संबोधित नहीं किया गया है।

आजादी के बाद के कुछ नवाचार, यथा-शांति-निकेतन, ऋषिवैली और नीलबाग स्कूल के प्रयोग मुख्यतः बच्चों की अंतर्निहित संभावनाओं की खोज और उनकी सृजनात्मकता के विस्तार पर केंद्रित थे। इस संदर्भ में सबसे दुःखद प्रसंग गांधीजी के बुनियादी शिक्षा प्रयोग का रहा, जिसके प्रति नई राज्य सत्ता की उदासीनता तो रही ही, स्वयं ग्रामीण जन-सामान्य भी इसके प्रति आकर्षित नहीं हुआ। गांधीजी के शिक्षा-सिद्धांत में श्रम (हाथ के काम और कौशल) पर मुख्य जोर था। ग्रामीण जन-सामान्य हाथ के काम में तो निष्णात था ही, श्रम पर उसकी पूरी जिंदगी निर्भर थी। वह शिक्षा से कुछ विशेष (सरकारी नौकरी और आरामदायक जीवन) आकांक्षा रखता था। बुनियादी शिक्षा उसकी स्थिति में वैसा कोई परिवर्तन नहीं सुझाती थी, जो आजादी के स्वप्न के साथ पुष्पित-पल्लवित हुआ था। शायद यही कारण था कि खुद गांधी के अनुयायी भी इस शिक्षा-प्रयोग को आगे नहीं ले जा सके।

विगत दशकों में विकसित शैक्षिक नवाचार मुख्यतः मुख्यधारा शिक्षा प्रणाली का विकल्प प्रस्तुत करने में जुटे रहे हैं। इनमें भी दलित, आदिवासी व अल्पसंख्यक बच्चों के सांस्कृतिक संदर्भों पर अलग से ध्यान नहीं केंद्रित किया गया है। इनमें माना जाता है कि जनतांत्रिक मूल्यों में इनका प्रतिकार अंतर्निहित है। इन शिक्षण संस्थानों से कम-से-कम एक पीढ़ी तो निकल कर आ ही चुकी है, लेकिन अपने सामाजिक परिक्षेत्र में वह कोई खास प्रभाव छोड़ने में समर्थ नहीं रही है। बेशक, इन नवाचारों की गुणवत्ता और सरोकार प्रशंसनीय हैं, लेकिन इनकी सीमाएं स्कूल से बाहर हैं। एक तो इन स्कूलों में समुदाय के बच्चों का एक हिस्सा ही पढ़ाई करता है। दूसरे, ये बच्चे अधिक-से-अधिक अपने कुल

समय का एक तिहाई ही स्कूल में गुजारते हैं, बाकी समय ये जिस परिवार और समुदाय में गुजारते हैं उसकी मूल-संरचना इनके द्वारा सीखी चीजों से असंगत होती हैं। चूंकि बच्चों की समुदाय के वयस्कों के बीच कोई आवाज नहीं होती, इसलिए ये बच्चे अपने परिवेश को प्रभावित कर पाने में सक्षम नहीं होते। इसलिए हमें लगता है कि किसी शैक्षिक नवाचार के साथ ही संबंधित समुदाय/समुदायों में भी जन-शिक्षण कार्य आरंभ करना चाहिए, तभी यह नवाचार आगे तक जा सकता है।

शिक्षा की भारतीय अवधारणा

प्राचीन भारतीय शिक्षा के संदर्भ के लिए सामान्यतः प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों में 'ज्ञान', 'विद्या' और 'शिक्षा' प्रमुख हैं। अरबी-फारसी में शायद 'इल्म', 'तालीम', और 'हुनर' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के अभिप्राय, संदर्भ और निहितार्थों में सूचना व कौशल, सत्य व न्याय, विज्ञान व नैतिकता, धर्म व चरित्र जैसी अवधारणाएं समाहित हैं। कुल मिलाकर कला और संस्कृति का एक व्यापक फलक इस तरह शिक्षा की परिधि में आ जाता है। शिक्षा की आधुनिक अवधारणा इस तुलना में अपेक्षाकृत सीमित और कई मामलों में तो संकीर्ण प्रतीत होती है।

प्राचीन काल में शिक्षा का प्रसार अत्यंत सीमित रहा, यह सर्वविदित तथ्य है। फिर भी शिक्षा की प्राचीन भारतीय अवधारणा आश्चर्यजनक रूप से समाज के बीच आज भी प्रचलित है। उल्लेखनीय है कि समाज शिक्षा के 'आधुनिक रूप' को संकीर्ण मानता है और संशय की दृष्टि से देखता है। यहां समाज से हमारा अभिप्राय व्यापक जन-समाज से है, जिसमें बहुसंख्यक निरक्षर या कम पढ़े-लिखे तबके भी शामिल हैं, जबकि आधुनिक शिक्षित वर्ग शिक्षा के आधुनिक अर्थ को वरीयता देता है और प्राचीन अवधारणा को व्यावहारिक नहीं पाता। यह अलग बात है कि यही शिक्षित वर्ग आधुनिक शिक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष में द्वैत देखता है और आधे-अधूरे रूप में ही शिक्षा को आत्मसात करता है, जबकि जनसाधारण 'शिक्षितों' की अहमन्यता और एकांगी आचरण से अक्सर संतुष्ट रहता है।

इस विचार के पीछे कुछ बातें रही हैं, जिन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है-

ज्ञान को भारतीय जनसाधारण ऊंचा स्थान देता रहा है। इसके लिए संप्रदायों के बीच के संघर्ष देखे जा सकते हैं, जहां कोई संप्रदाय विशेष अपने धर्म में ज्ञान का उच्च स्तर साबित करने का प्रयास करता है। यहां धर्म की तरह ज्ञान को भी मुक्ति के साधन के रूप में देखा गया है। हालांकि ज्ञान की कई सरणियां अंततः पुनः धर्म के रहस्यालोक में खो जाती रही हैं।

व्यक्ति का चरित्र और उसका आचरण ही उसके शिक्षित होने का सबसे बड़ा साक्ष्य माना गया है। इस संदर्भ में विभाजित व्यक्तित्व सदैव गरिमा रहित और संशय से देखे गए हैं। व्यक्ति के आचरण का मापदंड सत्य और न्याय के प्रति उसका व्यवहार और रवैया रहा है।

सूचना की तुलना में अनुभव को वरीयता दी गई है। सूचना अपनी प्रामाणिकता अनुभव अथवा व्यवहार से पाती रही है। सूचना और अनुभव का संगत संयोग 'विद्या' का रूप लेता रहा है।

विज्ञान और तकनीक की संगति सामाजिक सापेक्षता और नैतिक पहलुओं से आंकी जाती रही है। बेशक, इसके पीछे पाप और पुण्य की अवधारणाएं भी काम करती रही हैं।

लोक-ज्ञान शिक्षा से पृथक नहीं माना गया। इसकी व्यावहारिकता इसे 'विद्या' (कौशल और तार्किकता) 'ज्ञान' का दर्जा दिलाती है।

संस्कृति के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों को भी महत्वपूर्ण दर्जा प्राप्त रहा है। शिक्षा और संस्कृति के संबंध बहुत प्रगाढ़ रहे हैं। ऐसा लगता है कि शिक्षा का हर पक्ष 'संस्कृति' में था, लेकिन संस्कृति का हर पक्ष 'शिक्षा' हो - यह जरूरी नहीं था। शिक्षा को सदैव सर्वोच्च, गरिमापूर्ण और गंभीर हैसियत मिलती रही, उसे कभी भी द्वितीयक या मनोरंजक वस्तु नहीं माना गया।

प्राचीनकाल में शिक्षा पर एक समय में ब्राह्मणवादी वर्चस्व के बावजूद इसके बहुत लाभ के उपक्रम के रूप में बदलने के प्रमाण नहीं मिलते। ब्राह्मण वर्ग द्वारा शिक्षा से आजीविका के अतिरिक्त धनोपार्जन को समाज वैधता नहीं देता।

शिक्षा की प्रकृति इतनी भिन्न है कि इस उपक्रम से संबद्ध पेशेवर लोगों अर्थात शिक्षकों से भी भिन्न अपेक्षाएं रखी गई हैं। 'गुरु' विषयक धारणाएं इसका प्रमाण हैं। ऐसी ही अपेक्षाएं लगभग ज्ञान के भिन्न अनुशासनों में सक्रिय विशेषज्ञों, जैसे वैद्य, पशु चिकित्सक, मौसम विज्ञानियों, औषधि, जादू और बीजों के बारे में जानकारी रखने वालों से रही हैं। हालांकि उन्हें समाज में उतनी मानद हैसियत प्राप्त नहीं रही है।

शिक्षा के प्रवाहमान और जीवित स्वरूप को एक प्रक्रिया के रूप में मान्यता ज्यादा मिलती रही है। 'आंखिन देखी': अनुभव- आधारित और 'कागद-लेखी': लिखित ही प्रमाण, विद्याओं के मध्य द्वंद्व और सहयोजन की प्रक्रिया भी चलती रही है। शिक्षा में अंतर्निहित शक्ति और संभावनाओं को देखते इस पर एकाधिकार करने और वर्चस्व स्थापना में इसे इस्तेमाल करने की प्रवृत्तियों का जनसाधारण ने सदैव प्रतिकार किया है। शिक्षा से स्वतंत्रता और मुक्ति की अवधारणाएं भी गहरे संबद्ध रही हैं।

इस विचार के साथ निम्न सवाल उभरते हैं:

ऐसे कौन-से कारण रहे हैं कि प्राचीन समय में 'शिक्षा, ज्ञान और विद्या; अथवा तालीम, इल्म या हुनर' की शीर्ष स्तर पर जो शास्त्रीय अवधारणाएं थीं, तात्विक रूप से लगभग उसी रूप में समाज के बीच भी प्रचलित रही हैं, जबकि शिक्षा का प्रत्यक्षतः प्रसार अत्यंत सीमित था। क्या यह श्रुति-स्मृति की परंपरा के माध्यम से ही जीवित रहा?

ऐसा क्यों रहा कि शिक्षा के आधुनिक स्वरूप को तथाकथित आधुनिक समाज ने तो अपना लिया, लेकिन शास्त्रीय विचारणा से दीर्घकालीन अलगाव के बावजूद जन-सामान्य शिक्षा की मूल भारतीय अवधारणा से आज तक जुड़ा हुआ है?

कथित आधुनिक समाज, विशेषकर मध्यवर्ग ने शिक्षा के आधुनिक स्वरूप को भी आधा-अधूरा अपनाया है। इसके आचरण में द्वैत है, तथापि वह इसका प्रबल प्रवक्ता है। ऐसा क्यों है? क्या इसलिए कि इससे वह लाभान्वित हो रहा है अर्थात इससे उसके हित सध रहे हैं?

भारतीय जन-समाज आधुनिक शिक्षा को सामान्यतः यथासंभव नकारता है, और दबाव, प्रलोभन की स्थिति में ही वह इसे स्वीकार किए हुए है। लेकिन, यह 'स्वीकार' बहुत अस्थिर और अनिच्छापूर्ण है, क्योंकि वास्तव में उसके लिए शिक्षा का जो आदर्श है, उसमें सोच और आचरण के स्तर पर द्वैत के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा की मूल अवधारणा से जुड़े रहने की समाज में भरसक कोशिश परिलक्षित हो सकती है। यह देखने की जरूरत है।

यह भी देखना महत्वपूर्ण होगा कि शिक्षा की प्राचीन अवधारणा की व्यापकता और अर्थ-संवर्द्धन की प्रक्रिया क्या 'लोक से शास्त्र की ओर' रही है अथवा 'शास्त्र से लोक की ओर'। शिक्षा से जुड़ी नीति और सौंदर्य-विषयक मान्यताओं के सतत अक्षुण्ण बने रहने के स्रोत कहां हैं?

ऐसा लगता है कि तमाम नवाचारों के बावजूद आधुनिक शिक्षा के यथावत विस्तार के अलावा उसके अर्थ-विस्तार के प्रयास बहुत निर्णायक प्रभाव डालते प्रतीत नहीं होते। आखिर आधुनिक शिक्षित वर्ग शिक्षा की व्यापक नवीकृत अवधारणा को व्यवहार के स्तर पर अपनाने से कतराता क्यों है?

अंत में, कहना यही है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में जहां एक ही प्रकार की शिक्षा से विश्व-समाज को कुछ वर्चस्वशाली शक्तियां अनुकूलित करना चाहती हैं, क्या हमें भारतीय शिक्षा की देशज अवधारणा पर चिंतन नहीं करना चाहिए, जो हमारी जमीन के हवा-पानी में फल-फूल सके, हमारे व्यापक समाज की इच्छा-आकांक्षाओं के अनुरूप हो और हमारी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को संरक्षित और संवर्द्धित करती हो। बेशक, यदि शिक्षा की ऐसी कोई भारतीय अवधारणा आज विकसित होकर सामने आती है, तो यह पुरातनोन्मुखी नहीं होगी, बल्कि वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भविष्योन्मुखी होगी। ◆

लेखक परिचय : 'शिक्षा विमर्श' के संस्थापक संपादक, द्वैमासिक 'संस्कृति मीमांसा' के संपादक, स्वयंसेवी संगठन समान्तर 'सेन्टर फॉर कल्चरल एक्शन एण्ड रिसर्च' के कार्यकारी निदेशक (मानद) हैं।

संपर्क : 9828169277; samantarcsc@gmail.com